



यूरोपीय परिवर्तन एवं भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की शुरुआत - एक अध्ययन

डॉ. उपासना वर्मा - प्रोफेसर (इतिहास विभाग) डी. जी. पी. जी. कॉलेज, कानपुर (उ.प्र.)
एवं

शिवानी जायसवाल - शोध छात्रा (इतिहास विभाग) डी.जी.पी.जी. कॉलेज, कानपुर (उ.प्र.)

प्रस्तावना

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम बहुत हद तक यूरोपीय परिवर्तनों से जुड़ा हुआ है। मध्ययुगीन यूरोप अशांति महसूस कर रहा था, वहां पर अराजकता और उथलपुथल का दौर चल रहा था ऐसे में समाज असंख्य बुराइयों से भागना चाहता था। यूरोपीय समाज में हिंसा, क्रूरता और भ्रष्टाचार के प्रति व्यापक असंतोष की भावना उत्पन्न हो गई थी और लोगों को सामाजिक समस्याएं नापसंद थीं जिसकी वजह से वहां के लोग अधिक नैतिक जीवन जीने की लालसा करने लगे थे। उनके मन की उच्च आकांक्षाओं को पूरा करने, अपनी गरिमा की रक्षा करने और सामाजिक और राजनीतिक अनुरूपता के दमनकारी बंधनों से मुक्त होने की तीव्र इच्छा थी जिसने उनकी प्राकृतिक स्वतंत्रता का दम घोंट दिया था। इस प्रकार, मध्य युग के दौरान यूरोप की सामाजिक-आर्थिक संरचना तीन कारकों के संयुक्त प्रभाव से वजूद में थी: सैन्य, आर्थिक और धार्मिक। यूरोप ने समय के साथ अपने सैन्य ताकतों, तकनीकों और लड़ने की विधियों में काफी सुधार किया था। पश्चिमी देशों को इस बात का पूरा एहसास हो गया था कि जमीनी लड़ाई में वे नहीं जीत सकते इसलिए समुद्र पर कब्ज़ा करना अथवा जलयुद्ध में अपनी ताकत को बढ़ाना अधिक कारगर होगा। यही कारण था की मध्ययुग में पश्चिमी देशों ने समुद्र और समुद्री रास्तों पर अधिक ध्यान दिया और अपने सैन्य ताकत को भी समुद्रों के हिसाब से ही विकसित किया। इस वक्त तक भारतीय उपमहाद्वीप में मुगलों का शासनकाल चल रहा था और यहाँ पर अभी भी पारंपरिक सैन्य उपकरणों, तकनीकों और विधियों का ही इस्तेमाल किया जा रहा था जो पश्चिमी तकनीकों, उपकरणों और विधियों पर काफी भारी पड़ा जिसकी वजह से कम सैनिकों के वावजूद भी पश्चिमी सेना भारतीयों पर भारी पड़ती थी। जहाँ तक आर्थिक स्थिति की बात की जाए, यूरोपीय देश अथवा पश्चिमी देश आर्थिक संकटों से जूझ रहे थे इसलिए उनका एक ही मकसद बाख गया था वह था अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत करना इसके लिए चाहे रास्ते कोई भी अपनाने पड़ें। पश्चिमी देश भारतीय उपमहाद्वीप में सर्वप्रथम इसके



समृद्ध इतिहास और यहाँ की समृद्धि गाथा को सुन कर ही यहाँ पर व्यापार करने के उद्देश्य से आये थे। परन्तु यहाँ की अंतर्कलहीय स्थिति को देख कर उनहोने अपनी व्यापारिक स्थिति को मजबूत करने के लिए यहाँ की शासन व्यवस्था की बागडोर संभालने का निर्णय लिया। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है की पश्चिमी शक्तियाँ यहाँ पर कभी भी लम्बे समय तक शासन नहीं करना चाहती थी जैसा की मुगलों ने किया। पश्चिमी शक्तियाँ हमेशा से भारतीय उपमहाद्वीप को अपने व्यापारिक उपयोग एवं अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत करने के लिये करना चाहती थी। भारतीय उपमहाद्वीप में शुरू की गई सारी सेवाएँ एवं यहाँ पर किये गए कार्य पश्चिम की समृद्धता को ध्यान में रख कर ही किया गया। चूँकि पश्चिमी देश अपने इतिहास में हुए क्रूरता, अन्याय, भ्रष्टाचार, अराजकता और अशांति से तंग आ गए थे इसलिए एक व्यापक न्यायिक प्रक्रिया की भी शुरुआत की गई जिसका इस्तेमाल कर के ही आगे स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी गई। जैसा की हमसब को विदित है कि स्वतंत्रता की लड़ाई में अधिकांशतः अग्रणी पंक्ति के लोग पश्चिमी न्यायिक प्रक्रिया के जानकार (वकील अथवा बैरिस्टर) थे और मानवीय, तार्किकता और न्यायिक प्रक्रिया के आधार पर ही उनसे लड़ाईयाँ लड़ी। भारत में अंग्रेजी सरकार के पास पूरा अधिकार थे की वह किसी भी बात को माने या ना माने, क्योंकि शासन व्यवस्था उनकी थी, फिर भी उनके प्रति उन्हीं की अदालतों में मुकदमे चले और जीत भी हुई जो पूर्व कथित कथन का समर्थन करता है। अगला प्रभाव धर्म का था, अर्थात् पश्चिमी देशों ने अपना विस्तार आर्थिक स्थिति की मजबूती के साथ-साथ अपने धार्मिक विस्तारों को भी ध्यान में रख कर किया। भारतीय उपमहाद्वीप में भी पश्चिमी शक्तियों ने अपने धार्मिक विस्तार को अंजाम दिया। इस विषय पर सारी यूरोपीयन देश अथवा पश्चिमी शक्तियाँ एक मत थी और इस बात को लेकर उनमें काफी हद तक समन्वय भी स्थापित था इसलिए पश्चिमी शक्तियों में धार्मिक आधार पर किसी भी बात को लेकर औपनिवेशिक लड़ाइयाँ देखने को नहीं मिली। सभी एक ही धर्म, ईसाइयत को बढ़ावा देने की कवायद करते थे, हाँ उनमें अलग-अलग समुदाय जरूर थे मगर उनका मूल धर्म ईसाइयत ही थी। यूरोपीय समूहों ने वित्तीय उछाल की अपनी इच्छा को पूरा करने के तरीकों की तलाश, धार्मिक विस्तार और अपने सामुद्रिक शक्तियों को विस्तृत करना शुरू कर दिया। यूरोप ने अपनी सीमाओं के बाहर संसाधनों की तलाश शुरू कर दी क्योंकि उसके पास आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने की, अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए संसाधनों की कमी थी। परिणामस्वरूप कालांतर में, इसे कई नए व्यापार मार्ग, अज्ञात राष्ट्र और भारत जैसे ऐतिहासिक व्यापारिक केंद्र मिले और औपनिवेश एवं पश्चिम के शासन का विस्तार देखने को मिला।



यूरोपीय परिवर्तन एवं इसका भारतीय धरती पर विकास

एक सहस्राब्दी से अधिक समय के दौरान, रोमन प्रांतों में ट्यूटनिक जनजाति के आगमन से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक, यूरोप ने स्वतंत्रता (Independence) से आज़ादी (Freedom) की ओर परिवर्तन अथवा बदलाव किया था, लेकिन यह विदेशी कब्जे या अधिकार के अधीन नहीं हुआ था। आज़ादी का इतिहास एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है। यहाँ द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से अभिप्राय तार्किक तर्क से है □□□□□□ दार्शनिक सिद्धांत यह मानता है कि वास्तविकता का भौतिक आधार लगातार बदल रहा है और मन पर पदार्थ की प्राथमिकता कायम है। यह पिछली प्रणाली को खत्म करने जैसा था, इसकी प्रारंभिक कार्रवाई प्रतिकूल थी। यह दावा उस प्रक्रिया द्वारा किया गया है जो अठारहवीं शताब्दी के मध्य में शुरू हुई और 1857 के विद्रोह के साथ समाप्त हुई। दूसरा चरण एक नई व्यवस्था की स्थापना थी, जो 1857 के बाद पूरे पचास वर्षों में उत्तरोत्तर गति पकड़ती चली गई जहाँ एक नया अस्तित्व, एक नई पहचान, भारतीय राष्ट्र राज्य के रूप में तीसरे चरण में विश्व में प्रवेश किया, जो पूर्व और पश्चिम की पुरानी व्यवस्था और नए व्यवस्था की भावना का टकराव और संश्लेषण था।

अठारहवीं शताब्दी की शुरुआत में जहाँ भारतीय उपमहाद्वीप में मुगल शासन संरचना का क्षय होने लगा, व्यापार और कृषि का स्थानीयकरण होने लगा, साम्राज्य टुकड़ों में बिखर गया उस समय यूरोपीय लोग व्यापार और व्यवसाय के लिए यहां आए थे, उन्हें संसाधनों पर नियंत्रण करने का अवसर मिला और शासकों की गुप्त कमजोरी का पता लगाकर भारतीय मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। मुसलमानों के शिकार और उन्हें खदेड़ने की फिराक में स्पेनियों और पुर्तगालियों ने महासागरों को छान डाला, और पश्चिम की ईसाई सेनाओं को एबिसिनिया में प्रेस्टर जॉन के प्रसिद्ध साम्राज्य में शामिल करने का प्रयास किया, इस प्रकार उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के मुसलमानों को कुचलने के लिए एक पिनसर आंदोलन किया। अपने रणनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने अफ्रीका की परिक्रमा की, अरब सागर को पार किया और भारत के पश्चिमी तट पर दिखाई दिए। पुर्तगालियों ने तुर्की और अरब नौवहन को भारतीय जल क्षेत्र से बाहर खदेड़ दिया और इस तरह शांतिपूर्ण वाणिज्यिक संबंध समाप्त हो गया जो अब्बासिद खलीफ़ा के समय और उससे पहले से भारत और पश्चिम-एशियाई पड़ोसियों के बीच चला आ रहा था। इस समय भारत का निर्यात और आयात भारतीय और एशियाई जहाजों में किया जाता था, लेकिन उन्हें पुर्तगाली तलों (छोरों) में स्थानांतरित कर दिया गया



और भारतीय शिपिंग उद्योग पर एक घातक झटका लगा। दूसरे स्थान पर, जैसे ही भारतीय समुद्री गतिविधि बंद हो गई, दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भारतीय सांस्कृतिक संबंध टूट गए और बर्मा से इंडोनेशिया तक गंगा क्षेत्र से परे के देश भारतीय प्रभाव की कक्षा से बाहर हो गए। भारतीय संस्कृति की प्रगति, जिसने थाईलैंड, भारत-चीन और इंडोनेशिया की शानदार स्मारकीय उपलब्धियों को प्रेरित किया था, जिसने मलाया, सुमात्रा, जावा और पूर्वी द्वीपसमूह के द्वीपों में फैले महान साम्राज्यों को खड़ा करने में मदद की थी और जो इन क्षेत्रों के लोगों के लिए एक नया धर्म और सभ्यता लेकर आई थी, अचानक समाप्त हो गई (नया धर्म बौद्ध धर्म था)।

भारतीय तट पर पुर्तगालियों का आगमन एक नवजागृत, आत्मविश्वासी यूरोप का एक स्पष्ट प्रतिनिधित्व था, जो विज्ञान में नई खोजों, मनुष्य की गरिमा और समाज की एकजुटता के नए आदर्शों, भौतिक प्रगति और राष्ट्रीय शक्ति के नए दृष्टिकोण से सक्रिय होकर अठारहवीं शताब्दी तक कमजोर और अय्याश शासकों द्वारा शासित पूर्व के सबसे धनी देश के द्वार पर दस्तक देने लगा था। अठारहवीं शताब्दी में भारत ने अपनी गतिशीलता, स्थिरता, विकाशीलता खो दी थी और मुगल साम्राज्य की नाममात्र आधिपत्य के तहत गांवों, जातियों, कुलों, जनजातियों और रियासतों का एक मध्ययुगीन स्थिर समूह बन गया था। इसकी अर्थव्यवस्था बहुत हद तक कृषि पर निर्भर थी, इसकी आदिम तकनीकों में कोई नवीन वृद्धि नहीं थी, इसका संगठन सीमित था और इसका उद्देश्य निर्वाह उत्पादन तक ही सिमट कर रह गया था। भारत का उद्योग छोटे पैमाने पर संगठित किया गया था, यह या तो अमीरों के उपयोग के लिए विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन करने या स्थानीय बाजार की साधारण जरूरतों को पूरा करने के लिए रचनाकृत किया गया था; पैसे ने इसमें नगण्य भूमिका निभाई। इसके विपरीत, यूरोप ट्रांसओशनिक (समुद्र के पार, खास कर अंतरमहाद्विपीय) बाजार विकसित कर रहा था और चांदी और सोने के अमेरिकी खजाने का आयात कर रहा था; जिससे व्यापार और उद्योग को बढ़ावा मिला। तेजी से बढ़ती पूंजी के प्रेरणा के तहत, विशेषज्ञता बढ़ रही थी और व्यापारी और बैंकर जमींदार कुलीन वर्ग पर भारी पड़ रहे थे। भारत की बुद्धि उस आलोचनात्मक वैज्ञानिक आंदोलन से आंदोलित नहीं हुई थी जो यूरोपीय दिमाग को उत्साहित कर रहा था और आविष्कार और खोज को उकसा रहा था। भारत का सामाजिक और व्यक्तिगत व्यवहार उन प्रबल भावनाओं से प्रेरित नहीं था जो यूरोप के सामंती अराजक समाजों को सुगठित समेकित राष्ट्रों में परिवर्तित कर रहे थे।



यूरोप में धर्म का युग बीत रहा था और तर्क का युग दहलीज पर था; भारतीय परिवेश में बौद्धिक ज्ञान रखनेवाले श्रेष्ठगण, विद्वान, विचारक और आचार्यों का दृष्टिकोण सांसारिकता से इतर आध्यात्मिकता की तरफ अधिक था, वे सभी मोक्ष, मुक्ति और ईश्वरीय शक्तियों की तरफ अधिक असक्त थे। यह स्थिति भूमि पर इस्लामी घुसपैठ के प्रसार के कारण उत्पन्न हुई, जिसने प्राचीन काल में भारतीय उपमहाद्वीप के साथ समृद्ध संचार वाले दुनिया के पश्चिमी हिस्से के साथ संचार को काट दिया था। विश्व के अधिकांश भूमि पर मुस्लिम मानसिकता का शासन था, जिसका सामना करना यूरोपीय या ईसाई मानसिकता के लिए कठिन था, इसलिए उन्होंने (यूरोपीय या ईसाई लोगों ने) दुनिया पर फैलने और शासन करने के लिए जलक्षेत्र अथवा समुद्र को चुना, जिसमें वे सफल हुए। यूरोपीय देशों में पुर्तगाल अधिक शक्तिशाली साम्राज्य था जिसका विस्तार बहुत अधिक हो गया था। अत्यधिक फैला हुआ पुर्तगाल 1580 ई. में स्पेनिश ताज के अधीन आ गया, इसलिए साम्राज्य के फैलाव के दौड़ से बाहर हो गया और सत्रहवीं शताब्दी की शुरुआत में स्पेन को ऐसा लगा कि दुनिया उसके चरणों में है, लेकिन उसकी सड़ी हुई अर्थव्यवस्था और संकीर्ण धार्मिक कट्टरता ने उसे मुसीबत में डाल दिया। नीदरलैंड, फ्रांस और इंग्लैंड जैसे छोटे और युवा लेकिन सशक्त देशों ने उसके गौरव को कम कर दिया। उन्होंने उसके बेड़े को समुद्र से खदेड़ दिया और बढ़त हासिल कर ली। धीरे-धीरे नीदरलैंड दौड़ से बाहर हो गया और अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक फ्रांस और इंग्लैंड मैदान में केवल दो दावेदार रह गये। शुरुआती दौर में फ्रांस आगे निकलता दिख रहा था। उनकी नवीनता और साहसिक नीतियों ने भारत के दक्कन में उनके प्रभाव को सर्वोपरि बना दिया, लेकिन जल्द ही आंतरिक संघर्ष की छाया, जो 1789 की क्रांति में फूट पड़ी, महासागरों तक फैल गई और भारत में फ्रांस के एजेंट घरेलू सरकार के उस स्थिर समर्थन से वंचित हो गए, जिसके बिना अंतिम जीत अप्राप्य थी। सात साल के युद्ध ने फ्रांसीसी महत्वाकांक्षाओं पर निर्णायक रोक लगा दी और यह क्षेत्र पूरी तरह से अंग्रेजों के कब्जे में आ गया। अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों द्वारा आविष्कृत तरीकों को सीख लिया था, लेकिन अपने प्रयोग में उनसे आगे निकल गए। उन्होंने भारतीय शासकों की कमजोरियों और मूर्खताओं का पूरा फायदा उठाया और भारतीयों की मदद से पूरे भारत के स्वामी बन गए। सत्रहवीं सदी में भारत में मुगल शासन अपने चरम पर था, लेकिन जैसे-जैसे सदियां एक के बाद एक आती गईं, यूरोपीय सभ्यता का सूरज तेजी से मध्य आकाश की ओर बढ़ता गया, लेकिन भारतीय आकाश में



अंधेरा छाने लगा, और जल्द ही भूमि पर निराशा छा गई और नैतिक अराजकता और राजनीतिक भ्रम की छाया लंबी हो गई।

यूरोपीय पूंजीवाद का विस्तार एवं भारतीय अर्थव्यवस्था का दमन

यूरोपीय धरती पर विकसित पूंजीवाद का समर्थन करने वाली व्यापारिक व्यवस्था की दूर-दराज के अभियानों में एकमात्र महत्वाकांक्षा अपने संसाधनों की कमी को पूरा करना, धन इकट्ठा करना, उत्पादकता में वृद्धि करना और व्यापार और व्यवसाय के माध्यम से दुनिया पर शासन करना था। मुसलमान और ईसाई दोनों ही गुलामी प्रथा के समर्थक थे। उनका एकमात्र सूत्र था कुचलना, मथना, लूटना और उपयोग करना। भारतीय दर्शन के विपरीत उनकी गुलामी की धारणा कठोर, आत्मकेन्द्रित थी। यूरोप का इतिहास उथल-पुथल और हिंसा से भरा था, जीवन और संपत्ति के लिए बेहद असुरक्षित स्थितियाँ व्याप्त थीं और यह निर्धारित किया कि मध्य युग में यूरोपीय समाज को किस रूप में ढाला गया था। सर्वत्र केन्द्रीय सत्ता लुप्त हो गयी और उसके साथ ही राज्य कराधान की व्यवस्था भी। आर्थिक अराजकता के कारण बड़े सामाजिक समूह अपना भरण-पोषण नहीं कर सके। उत्पादन कम हो गया था, व्यापार कम हो गया था और यूरोप को प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के साथ नए सिरे से शुरुआत करनी पड़ी थी। हिंसा से सुरक्षा और जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति मनुष्य की दो प्रमुख समस्याएँ थीं। उनके समाधान में एक नए सामाजिक संगठन का विकास शामिल था। इसके विकास में रोमन और ट्यूटनिक, परंपराओं और संस्थाओं ने अपना योगदान दिया और परिणामस्वरूप समाज की सामंती व्यवस्था का जन्म हुआ। तेरहवीं शताब्दी से पश्चिमी यूरोप के लोग सामंतवाद से उभरने और राष्ट्रीय राज्यों के रूप में विकसित होने लगे। यह परिवर्तन कई क्रांतियों का परिणाम था, जिसने मध्य युग में यूरोप को जिस सांचे में ढाला गया था, उसे तोड़ दिया और अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक पूरा हो गया।

अंग्रेज़ व्यापार से लाभ कमाने के लिए निकले थे; उन्होंने राज्य के खजाने में जमा होने वाले राजस्व का उपयोग उन भारतीय वस्तुओं के उत्पादन और खरीद में निवेश के लिए किया, जिनका वे निर्यात करते थे। वाणिज्य की आवश्यकताओं और भूमि-राजस्व की प्राप्ति के लिए प्रशासन की मशीनरी की स्थापना हुई। भारत, एक मरणासन्न सामाजिक व्यवस्था का बोझ ढोते हुए, फिर भी कला, साहित्य, दर्शन और धर्म की समृद्ध विरासत का वाहक, एक



विजयी, गौरवान्वित और प्रगतिशील ब्रिटेन के सामने खड़ा था, जो अपने नैतिक और भौतिक स्वरूप में आधुनिक था। ब्रिटिश साम्राज्य के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था को रूपांतरित किया गया और ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था के अनुरूप तैयार किया गया; साथ ही गरीबी, जनसंख्या और भूमि पर दबाव बढ़ गया।

यूरोपीय इतिहास के मध्यकालीन और आधुनिक काल के बीच यूरोप की सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी प्रमुख परिवर्तन से गुजरी थी, इसकी अर्थव्यवस्था मध्य युग के हस्तशिल्प-आधारित नगरपालिका व्यापार से व्यापारिक प्रणाली में बदल गई थी, और राजनीति में केंद्रीकृत और शक्तिशाली राजशाही निरंकुश शासन द्वारा सामंती प्रभुओं की अर्ध-स्वायत्त संपत्तियों का ढीला संघवाद बन गया था। बौद्धिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में एक विशाल क्रांति हुई जिसने मन की प्रवृत्तियों, तरीकों और प्रक्रियाओं को प्रभावित किया और मनुष्यों के विश्वासों को गहराई तक हिला दिया। इस प्रकार एक त्रिस्तरीय आंदोलन ने समाज को बदल दिया और यूरोप के क्षेत्रीय, धर्मनिरपेक्ष, राष्ट्रीय और आत्म-जागरूक समाजों के आधार पर आधुनिक, स्वतंत्र और संप्रभु राज्यों के युग की शुरुआत हुई। इन समाजों के सदस्य-व्यक्ति और समूह-राष्ट्रवादी भावना और क्षेत्रीय देशभक्ति के बंधन से एक साथ एकजुट थे।

व्यापारिकता ने नए उद्योगों की नींव को प्रोत्साहित किया, और उन्हें सब्सिडी के माध्यम से, एकाधिकार के अनुदान और करों से छूट के द्वारा, विदेशी प्रतिस्पर्धा को प्रतिबंधित करके, कच्चे माल के आयात और निर्मित वस्तुओं के निर्यात का समर्थन करने के लिए टैरिफ में हेरफेर करके और उत्पादन के मानकों के रखरखाव के लिए नियंत्रण करके बढ़ावा दिया। लेकिन कई अन्य कारकों ने भी इसे आगे बढ़ाने में मदद की; उदाहरण के लिए, व्यक्तिवाद का विकास, जो स्वयं मध्ययुगीन व्यवस्था के खत्म होने का परिणाम था, ग्राम समुदायों और गिल्डों के प्रभुत्व का खत्म होना, आर्थिक जीवन में बैरन और मास्टर के नियंत्रण से व्यक्ति की मुक्ति, और बुद्धि और आत्मा पर लगे बंधनों का टूटना। व्यापारिक अर्थव्यवस्था पूंजी संचय की ओर अग्रसर थी, जिसका प्रभाव कृषि, वाणिज्य और उद्योग पर पड़ा। उत्पादन, व्यापार और वाणिज्य को अधिकतम करने के आग्रह ने नई क्रांति यानी औद्योगिक क्रांति ला दी, जिसने पोशाक कंपनियों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया, जिन्होंने हस्तशिल्प को व्यापारी उद्यमियों के नियंत्रण में रखा। नए मार्गों और नई भूमियों, यानी अमेरिका और



भारत की खोज से बाजारों के विस्तार ने यूरोपीय आर्थिक गुरुत्वाकर्षण केंद्र को भूमध्यसागरीय भूमि से अटलांटिक समुद्र तट पर देशों में स्थानांतरित कर दिया।

सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक विदेशी व्यापार से इंग्लैंड की राष्ट्रीय संपत्ति यूरोप से तीन गुना बढ़ी थी। व्यापार ने नौपरिवहन और जहाज निर्माण को एक बड़ा प्रोत्साहन दिया। अमेरिका से यूरोप में सोने और चाँदी की बाढ़ आने लगी। इसने अचानक चल पूंजी में वृद्धि की और इसलिए उद्यमशील उद्यमों को एक शक्तिशाली धक्का दिया। व्यापारिक व्यवस्था ने राज्य के अधिकार को बढ़ाया और उसके सभी प्रतिद्वंद्वियों, चर्च, शहर और सामंती संपत्ति को उसके बढ़ते नियंत्रण के आगे झुकना पड़ा। राज्य ने धन और शक्ति प्राप्त की, जिसका उपयोग उपनिवेश प्राप्त करने, सेनाओं का समर्थन करने और प्रतिद्वंद्वियों के खिलाफ युद्ध छेड़ने में किया गया। पूंजीवादी यूरोपीय समाज को अपनी प्रकृति के तर्क से आग्रह किया गया था कि वह अपने उद्योग के लिए कच्चा माल इकट्ठा करने और अपने निर्माताओं के लिए नए बाजार खोजने के लिए दुनिया भर में विस्तार की तलाश करे और साथ ही बिजली की भूख की बढ़ती जरूरतों को पूरा करने के लिए धन और पूंजी जमा करे।

यूरोपीय प्रभाव एवं स्वतंत्रता संग्राम की नींव

1757 ई. में पलासी की लड़ाई के बाद, बंगाल और बिहार में ब्रिटिश शासन लागू करने के खिलाफ एक गहरा आक्रोश था, जो बाद के वहाबी आंदोलन और उसकी शाखाओं से स्पष्ट रूप से प्रकट होता है, जिनका इस क्षेत्र में एक मजबूत केंद्र था। लेकिन इस समय कोई सक्रिय प्रतिरोध नहीं था, इसका कारण हाल के दिनों में शासक राजवंशों में बदलाव था, मुसलमान बंगाल में अल्पसंख्यक बन गए और आम तौर पर जीवन के सभी क्षेत्रों में कम उन्नत थे। अलीवर्दी खान, जिन्होंने 1740 ई. में अपने परिवार से सिंहासन छीन लिया था, ने दिवंगत शासक परिवार के मुस्लिम अनुयायियों के खिलाफ जाँच के माध्यम से उच्च पदों पर हिंदुओं को नियुक्त करने की नीति बनाई। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मुसलमान, जो अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा के नुकसान से गंभीर रूप से पीड़ित थे, अशांत मूड में थे और जहां तक संभव हो सके उन्होंने खुद को अंग्रेजी से अलग रखा। इसके विपरीत, हिंदू, जिन्होंने मुस्लिम अत्याचारियों के जुए से मुक्ति दिलाने वाले के रूप में अंग्रेजों का स्वागत किया।



चूँकि उन दिनों राष्ट्र की कोई अवधारणा नहीं थी, पश्चिमी अवधारणा की तरह जहाँ राष्ट्र की अवधारणा विकसित हुई, वहाँ बंगाली, हिंदुस्तानी, सिख, राजपूत और मराठा थे, लेकिन कोई भारतीय नहीं था। बिशप हेबर 1824 ई. में ऊपरी भारत के अपने दौरे का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हिंदुस्थान यानी ऊपरी भारत के लोग बंगालियों को उतना ही विदेशी मानते थे जितना कि अंग्रेज़। इसलिए कोई भी बंगालियों की तरह अपने प्रांत के क्षितिज से परे नहीं देख रहा था। मराठा न केवल उतने ही विदेशी थे जितने अंग्रेज़ थे, बल्कि वे उन विदेशी लोगों से नफरत करते थे जो अंग्रेज़ नहीं थे और मराठों के खिलाफ़ बंगाल की नफरत लोरी में भी व्यक्त होती थी। यह प्राथमिक कारण था कि अंग्रेज़ों ने बंगाल में अपने आधार से मराठों, गोरखाओं और अन्य भारतीय शक्तियों के खिलाफ लड़ाई लड़ी, धन और सम्मान के लिए बंगाली लोग ब्रिटिश हथियारों की सफलता के लिए भगवान से नियमित प्रार्थना करते थे, और स्वेच्छा से अपनी संपत्ति के एक बड़े हिस्से के साथ अंग्रेज़ों की मदद करने के लिए आगे आते थे। हिंदुओं के लिए मुसलमान मूलनिवासी नहीं थे, बल्कि वे आक्रमणकारी थे और हिंदुओं में इस बात को लेकर भी नाराजगी थी कि बहुसंख्यक और देश के मूलनिवासी होने के बावजूद उन्हें सत्ता, सम्मान और अवसर से वंचित रखा गया है और उन पर विदेशी मुसलमानों का शासन है। 20वीं सदी में जो वर्णन किया गया है, उसमें हिंदुओं और मुसलमानों का भाईचारा और सौहार्द उस समय की राजनीतिक मजबूरी थी। बंगाल की ब्रिटिश विजय की पूर्व संध्या पर चीजों की स्थिति को एससी हिल ने 1756-7 ई. में बंगाल से संबंधित अभिलेखों के संग्रह के अपने परिचय में तीन खंडों में संक्षेपित किया है। इस तथ्य का उल्लेख करने के बाद कि बंगाली हिंदू, एक अधीन जाति के रूप में, राज्य के सभी मामलों के प्रति उदासीन रहे हैं, उन्होंने एक बदलाव देखा और इसे निम्नलिखित शब्दों में वर्णित किया:

"लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय पूरे भारत में और विशेष रूप से बंगाल मुहम्मदन शक्ति के धीरे-धीरे कमजोर होने के संयोग से हिंदू भावना का पुनरुत्थान हो रहा था। इस प्रकार, हम पाते हैं कि अंग्रेज़ों के पक्षपाती लगभग सभी हिंदू या हिंदुओं के आश्रित थे, और एम. लॉ हमें बताता है कि बिहार के हिंदू जमींदारों ने सिराज-उद-दौला के स्थान पर एक हिंदू शासक को नियुक्त किया होता यदि सेठों का प्रभाव नहीं होता। हिंदुओं का असंतोष मुहम्मदन सरकार के राजाओं पर अन्य पर्यवेक्षकों का ध्यान गया था, उदाहरण के लिए, कर्नल स्कॉट ने 1754 में अपने मित्र मिस्टर नोबल को लिखा था कि 'जेंट्रू (हिंदू) राजा और निवासी मूर



(मुहम्मद) सरकार से बहुत असंतुष्ट थे, और गुप्त रूप से अपने अत्याचारी जुए को उखाड़ फेंकने के लिए एक बदलाव और अवसर की कामना करते थे।"

"तथ्य यह है कि देश का वाणिज्य और विनिर्माण लगभग पूरी तरह से हिंदुओं के हाथों में था, स्वाभाविक रूप से उन्हें यूरोपीय व्यापारियों के साथ घनिष्ठ संबंध में लाया गया, जो व्यापार के उद्देश्य से देश में बस गए थे, और इस प्रकार मुख्य रूप से उनके भौतिक हितों पर आधारित एक प्रकार का मौन गठबंधन तैयार हुआ।"

डॉ. के.के. दत्ता कहते हैं: "हालांकि दोनों समुदायों के बीच कुछ हद तक रीति-रिवाजों और विचारों का पारस्परिक मेल था, लेकिन दरबारी हलकों में रहने वाले दोनों समुदायों के प्रमुख सदस्यों के बीच संबंध कभी-कभी बहुत कड़वे होते थे... इसलिए उन्होंने (हिंदू अभिजात वर्ग) ने बंगाल के उभरते हुए नवाबों को उखाड़ फेंकने के लिए खुद को अंग्रेजी के साथ जोड़ लिया..."

इसमें कोई संदेह नहीं है कि ब्रिटिश प्रशासन के उदारवादी चरित्र, विशेष रूप से इसकी न्यायिक प्रणाली ने, हिंदुओं पर बहुत अनुकूल प्रभाव डाला, जिन्होंने इसकी तुलना अठारहवीं शताब्दी में मुस्लिम शासन की पतनशील प्रणाली से की, जो इतनी दृढ़ता से अक्षमता, भ्रष्टाचार और लगभग अविश्वसनीय हद तक वसूली से चिह्नित थी। द्वारका नाथ टैगोर ने "अपना दृढ़ विश्वास व्यक्त किया कि भारत की खुशी इंग्लैंड के साथ उसके संबंधों से ही सुरक्षित है", उन्होंने लगभग सभी बुराइयों के लिए मुस्लिम शासन को जिम्मेदार ठहराया, जिनसे देश पीड़ित था। प्रसन्न कुमार टैगोर ने खुले तौर पर घोषणा की कि वह किसी भी अन्य सरकार की तुलना में अंग्रेजी सरकार को प्राथमिकता देंगे, यहां तक कि हिंदू सरकार को भी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि तीसरे मराठा युद्ध और नेपाल युद्ध के दौरान कलकत्ता के नागरिकों ने अंग्रेजों की जीत के लिए प्रार्थना की।

यूरोपीय या ईसाइयों के आगमन से पहले, हिंदू और मुसलमानों ने भारतीय परिवेश में सह-अस्तित्व के लिए अपना अनुकूल तरीका ढूंढ लिया था और अपनी पारंपरिक सहिष्णुता को अच्छी तरह से स्वीकार कर लिया था। लेकिन औरंगजेब के इस्लामी विचार के अतिवाद और उसके थोपे जाने के कारण हिंदू और मुसलमानों का अनुकूल संतुलन हिल गया और बीच में कुछ दरार पैदा हो गई, जिसका फायदा उठाकर मराठा हिंदू पद पादशाही की स्थापना के लिए सत्ता में आए, लेकिन अवसर और अपने विचार को पूरी तरह से मूर्त रूप देने में असफल रहे। ईसाई धर्म के प्रवेश ने भारतीय उपमहाद्वीप में धार्मिक शक्ति संतुलन को बदल दिया था



और एक त्रिकोणीय धार्मिक शक्ति केंद्र विकसित हो गया था जिसे एक दूसरे से समान खतरा था। यूरोपीय लोगों का व्यापारिक दर्शन इतना प्रमुखता से हावी था कि उन्हें बहिष्करणवादी मिले जो अपने प्रतिद्वंद्वियों के बाजारों को खाली करने के लिए युद्ध का सहारा लेने में संकोच नहीं करते थे। न ही वे अपने ही नागरिकों के बीच प्रतिस्पर्धा की अनुमति देने के लिए तैयार थे, क्योंकि प्रतिस्पर्धा से मुनाफा कम हो जाता था। व्यापारीवादी दर्शन बाजारों में वस्तुओं को महंगा बेचने और कच्चे माल को सस्ते में खरीदने की इच्छा का दावा करता है, जो स्वाभाविक रूप से उपनिवेशवाद, विजय और प्रभुत्व का सुझाव देता है। व्यापारवादी आर्थिक गतिविधि ने होब्सियन राज्य की प्रकृति में प्राप्त होने वाले कानूनों का स्वागत किया। व्यापार हाथ में तलवार लेकर किया जाता था, जिसके परिणामस्वरूप सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक सभी यूरोपीय शक्तियों के बीच सतत व्यापारिक युद्ध होता रहा।

1757 ई. में प्लासी की लड़ाई भारत में अंग्रेजों के लिए निर्णायक मोड़ थी क्योंकि ईस्ट इंडिया कंपनी को कलकत्ता पर संप्रभुता और कलकत्ता के दक्षिण में चौबीस परगना के नाम से जाने जाने वाले क्षेत्र पर राजस्व अधिकार प्रदान किया था। मीर कासिम ने अंग्रेजी मॉडल पर अपनी सेना को फिर से संगठित करने का गंभीर प्रयास किया, लेकिन पारगमन बकाया या टोल के भुगतान को लेकर अंग्रेजों के साथ उनका झगड़ा जल्द ही एक खुले युद्ध (1763 ई.) में बदल गया। बक्सर की लड़ाई (1764 ई.) के बाद अंग्रेजों को दीवानी का अनुदान मिल गया और शाह आलम तथा अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ संधि हो गई, अंग्रेजों की स्थिति बंगाल और बिहार में सुरक्षित हो गई। लेकिन इसी स्थिरता ने भारत में स्वतंत्र शासक शक्तियों, विशेषकर मराठों, निज़ाम और हैदर अली के बीच उनके प्रति संदेह और घृणा पैदा कर दी। हालाँकि उनकी नीति अक्सर संकीर्ण विचारधारा वाले स्वार्थ से निर्धारित होती थी, फिर भी वे अंग्रेजों की बढ़ती शक्ति और प्रतिष्ठा के प्रति पूरी तरह से उदासीन नहीं रह सकते थे, जो न केवल उनकी अपनी शक्ति के लिए, बल्कि समग्र रूप से भारत की स्वतंत्रता के लिए भी खतरा था। प्रमुख शासक शक्तियों ने समय-समय पर अंग्रेजों के खिलाफ ठोस कार्रवाई के लिए योजनाएँ बनाई थीं। उनके उदाहरण से प्रेरित होकर, या अन्य उद्देश्यों से प्रेरित होकर, कुछ कम शक्तियों और कभी-कभी सामान्य जनता ने भी विदेशी शासकों के प्रति शत्रुता की कटु भावनाएँ प्रकट कीं। इसे "अंग्रेजों को बाहर निकालने" के लोकप्रिय नारे में अभिव्यक्ति मिली, जिसके साथ छोटी स्थानीय शक्तियों द्वारा भी ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ खुला प्रतिरोध किया गया। अंग्रेजों को बाहर निकालने के लिए ठोस कार्रवाई की योजना का सबसे पहला उदाहरण



1778 या 1779 ई. में मिलता है जब अंग्रेज भारत में मराठों और फ्रांसीसियों के साथ युद्ध में शामिल थे। इस अवसर पर मैसूर के हैदर अली, लगभग सभी मराठा प्रमुखों और निज़ाम ने अपने-अपने मुख्यालयों से अंग्रेजों के खिलाफ एक साथ हमला करने के लिए एक भव्य संघ का आयोजन किया। लेकिन हेस्टिंग्स की श्रेष्ठ राजनीतिक कुशलता ने इसकी विफलता सुनिश्चित कर दी।

अठारहवीं शताब्दी के अंत में, लगभग 1795 ई. में अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने का प्रयास किया गया। काबुल के ज़मान शाह, टीपू सुल्तान, सिंधिया, आसफ-उद-दौला, अवध के नवाब, दिल्ली के एक शरणार्थी राजकुमार, और कनिंघम द्वारा उल्लिखित रुहेला प्रमुख गुलाम मुहम्मद के बीच एक समझ थी। ठीक उसी क्षेत्र की नागरिक आबादी ने 1857 ई. के महान संग्राम में सक्रिय भाग लिया था। इन दोनों विद्रोहों में से पहला विद्रोह वारेन हेस्टिंग्स द्वारा बनारस के राजा चैत सिंह के खिलाफ उठाए गए अत्याचारी कदमों के कारण हुआ था। बनारस मूल रूप से अवध के प्रभुत्व का एक हिस्सा था। लेकिन 1775 ई. में, अवध के नवाब वजीर शुजा-उद-दौला की मृत्यु के बाद, उनके उत्तराधिकारी आसफ-उद-दौला ने अंग्रेजों के साथ एक नई संधि में, राजा चैत सिंह पर निर्भर सभी जिलों सहित बनारस प्रांत को ईस्ट इंडिया कंपनी को सौंप दिया। श्रद्धांजलि की निर्धारित राशि का भुगतान करने की शर्त पर, चैत सिंह को पूरे अधिकार के साथ जमींदार के रूप में उनके कब्जे की पुष्टि की गई। राजा चैत सिंह ने वित्तीय मामलों और विवादित विचारधारा के कारण अंग्रेजों से संघर्ष शुरू कर दिया। अवध के अपदस्थ नवाब वजीर अली का विद्रोह, अठारहवीं शताब्दी के अंत में अंग्रेजों के खिलाफ अखिल भारतीय साजिश का एक हिस्सा था। वजीर अली का विद्रोह सर्वविदित है, लेकिन अंग्रेजों को बाहर निकालने के एक संगठित, असफल प्रयास के रूप में इसके पूर्ण महत्व को आम तौर पर मान्यता नहीं दी गई। पलासी (प्लासी) की लड़ाई के बाद बीती शताब्दी के दौरान ब्रिटिश प्रभुत्व के तेजी से विस्तार ने पूरे भारत में असंतोष और नाराजगी की धधकती छाप छोड़ दी। लेकिन ब्रिटिश शासन के कई अन्य परिणामों ने इन्हें काफी हद तक तीव्र कर दिया, जिससे लोगों के भौतिक और नैतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। बंगाल में ब्रिटिश शासन का पहला बुरा परिणाम देश का आर्थिक शोषण था और यह कहा जा सकता है कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की रुपरेखा और नींव यहीं से पडना शुरू हुआ।



सन्दर्भ ग्रन्थ -

- तारा चंद, भारत में स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास, खंड 1, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, 1961, पृष्ठ 1-45
- आर.सी. मजूमदार, भारत में स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास, खंड 1, Firma K.L. मुखोपाध्याय, कोलकाता 1971, पृष्ठ 43-87
- Cf. प्रेस अध्यादेश के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट को स्मारक (राम मोहन रॉय के कार्य, पाणिनी प्रेस, पृष्ठ 439)
- हिल, एस.सी., 1756-8 में बंगाल, पृष्ठ xxiii; के.के. दत्ता, बंगाल सूबे के इतिहास में अध्ययन, 1740-70 ई. पृष्ठ 103; एन.एन. घोष, महाराजा नवकिशन बहादुर की यादें, पृष्ठ 10, 14
- भारतीय गजट, 4 जुलाई, 1831, उद्धृत बी. मजूमदार, राजनीतिक विचारों का इतिहास, पृष्ठ 186-187
- थॉर्नटन, ई., भारत में ब्रिटिश साम्राज्यों का इतिहास, II. 296 ff.
- सी. बी. चौधुरी, भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान नागरिक अशांति (1765-1857)

Reference

1. Tara Chand, History of Freedom Movement in India, vol 1, The Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, 1961, page 1-45
2. R.C. Majumdar, History of The Freedom Movement in India, Vol. 1, Firma K.L.Mukhopadhyay, Culcutta 1971, p43-87
3. Cf. Memorial to the Supreme Court against the Press Ordinances (Works of Ram Mohan Roy, Panini Press, p.439
4. Hill, S.C., Bengal in 1756-8, p.xxiii; K.K Datta, Studies in the History of the Bengal Subah, 1740-70 A.D. p 103; N.N.Ghosh, Memories of Maharaja Nabakissen Bahadur, pp.10, 14
5. The Indian Gazette of July 4, 1831, Quoted in B, Majumdar, History of Political Thought, pp. 186-7
6. Thornton, E., History of the British Empires in India, II. 296 ff.
7. C. B. Chaudhuri, Civil Disturbances During the British Rule in India (1765-1857)